स्याद्वाद की लोकमंगल दृष्टि

(जैनाचार्य श्री आनंदऋषिजी महाराज)

'सत्य क्या है?' यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हजारों-लाखों वर्षों से विचार होता आया है। इस प्रश्न पर विचार करने वाला कौन है? मनुष्य। मानव जाति निरंतर सत्य की खोज करती है, सत्य को जानने के लिए उत्सुक रही है।

आज भी सत्य का जिज्ञासु एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ सभी प्रकार के आचार, विचार, बोली व देशवाले व्यक्तियों के आने जाने का तांता लगा हुआ है। वहाँ आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से वह एक ही प्रश्न पूछता है - 'सत्य क्या है?' और हरेक आदमी अलग-अलग उत्तर देता हुआ आगे बढ़ता जाता है। एक कहता है कि सत्य पूर्व में है, तो दूसरा कहता है कि नहीं, सत्य तो पश्चिम में है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य को अपनी दृष्टि से परखता है और जिस दृष्टि से देखता है, जिस रूप में देखता है, उसे सत्य मानने लगता है। परिणामत: उसके लिए झगड़ने लग जाता है। वह कहता है - 'सत्य तो मेरे पास है, आओ मैं तुम्हें सत्य को दिखाता हूँ।' मानो विश्व में उसके सिवाय सत्य किसीके पास है ही नहीं।

मानव की यह कितनी विचित्र मनोवृत्ति है कि वह जो कहता है, वही सत्य है। जो वह जानता है, वही सत्य है। वास्तव में मानव की इस मान्यता में सत्य दृष्टि नहीं, बल्कि उसका अहंकार छिपा हुआ है। किसी को धन का और किसी को प्रतिष्ठा का। परिणामत: उसने अपने अहंकार को ही सत्य का रूप दे दिया है और उसके लिए वाद-विवाद, संघर्ष करने तथा लड़ने और मरने-मारने पर भी आमादा हो जाता है।

संसार में जितने भी संघर्ष, हुए हैं, युद्ध हुए हैं या हो रहे हैं, भाई-भाई में द्वेष और घृणा फैली, पिता-पुत्र में शत्रुता के भाव पैदा हुए या परिवार के परिवार उजड़ गये, तो इन सबका मूल कारण क्या है? मूल बीज बहुत छोटा-सा है जिसने विनाश के वट वृक्ष का रूप ले लिया और यह है 'जो मेरा है वही सत्य है।' जब भी इस आग्रह का भूत सिर पर सवार हुआ तो विग्रह पैदा हो गया। हजारों-लाखों मनुष्यों को विचारान्ध सत्ताधारियों ने अपने दुराग्रह, कदाग्रह पर अड़कर मौत के घाट उतार दिया इससे संत-महात्मा भी अछूते नहीं रहे और उन्हें भी शूली पर लटका दिया गया। इतिहास इसका साक्षी है।

शांति का मार्ग

संसार अपनी जलती देह को क्षीरोदक से शीतल करने के लिए बेचैन है, लेकिन तन को शीतल करने से पहले उसे मन को भी शीतल बनाना पड़ेगा और मन को शीतल करने का अमोघ उपाय दुराग्रह के त्याग में है, दूसरों को झुलसाने की क्रूरता से बचने में है, सत्य की राह पाने में है। सत्य की राह पर आए हुए व्यक्ति की

श्री आनंदऋषिजी महाराज

सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह किसी भी स्थिति में दुराग्रह या हठ नहीं करता है।

इसके लिए श्रमण भगवान महावीर ने एक दृष्टि दी, विचार दिया कि सत्य शाश्वत है, लेकिन यह मत कहो कि मेरा ही सत्य, सत्य है। एकान्त आग्रह सत्य नहीं है और न वह सत्य का जनक है। जबतक यह दृष्टि नहीं हो जाएगी कि 'यत्सत्यं तन्मदीयम्', तब तक सत्य की खोज नहीं कर सकोगे और न सत्य के दर्शन कर पाओगे। यदि सत्य को पाना है, शांति प्राप्त करनी है और समाधिस्थ होना है, तो सर्वप्रथम सत्य को देखने का चश्मा बदलो। अनाग्रह दृष्टि अपनाओ। अनाग्रह दृष्टि किसी पक्ष विशेष से आबद्ध न होने का नाम है। जब अनाग्रह दृष्टि होगी तो सत्य स्वयं प्रतिभासित हो जाएगा, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास, परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।

इस अनाग्रह दृष्टि का नाम ही स्याद्वाद - अनेकान्तवाद है। यह सत्य को अनंत मानकर चलता है। फलत: जहाँ भी, जिस किसी से भी सत्य मिलता है, अनाग्रह एवं विनम्र भाव से उसे अपना लेता है।

अब प्रश्न है कि भगवान महावीर ने सत्य प्राप्ति के लिए स्याद्वाद - अनेकान्तवाद का संकेत क्यों किया? सामान्यत: इसका उत्तर है कि सत्य अनंत है, अत: उसकी न तो शब्दों से ही अभिव्यक्ति हो सकती है और न शब्द-प्रधान विचारों से ही। वह तो एकमात्र विशुद्ध ज्ञानालोक में ही प्रतिभासित होता है। फिर भी जो उस सत्य को एकांत आग्रह एवं मतान्धता से आबद्ध करते हैं, वे स्वयं अपनी भी हानि करते हैं और दूसरों को भी हानि पहुँचाते हैं।

आग्रहशीलता आदि के बारे में भगवान महावीर के कथन का निष्कर्ष यह है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरों की निन्दा में तत्पर हैं, ऐसा करने में ही पांडित्य समझते हैं, वे इस संसार में चक्कर लगाते रहते हैं।

सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विउस्सिया॥

सूत्रकृतांग १/१/२/२३॥

लोकव्यवहार अनेकान्तात्मक है

भगवान महावीर के ऐसा कहने का कारण यह है कि विश्व के मौलिक तत्त्वों और उनके आधार पर प्रचलित व्यवहार में एकान्त

चलित चक्र संसार का, कायम रहता कौन ?
जयन्तसेन सरल बनो, रह तन मन से मौन ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने में नहीं आता है। मौलिक तत्त्वों के बारे में उन्होंने सूत्र दिया - उप्पनेइ वा, विगमेइ वा, धुवइ वा - तत्त्व उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य युक्त है। पदार्थ रूप से रूपांतरित होते हुए भी अपने अस्तित्व, स्थायित्व से विहीन नहीं हो जाता है। हमारे जीवन और लोकव्यवहार का ताना-बाना भी इन त्रिपदों से गूँथा हुआ है।

लोकव्यवहार में एक व्यक्ति के साथ अनेक संबंधों का जुड़ना काल्पनिक नहीं है। जैन साहित्य में कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता का आख्यान प्रसिद्ध है, जन्मतः भाई-बहन थे लेकिन भाग्य दुर्भाग्य से अठारह संबंध, नाते वाले बन गए। वे सभी संबंध अपेक्षादृष्टि से घटित हुए। जब इन प्रतीतिसिद्ध नातों का अपलाप नहीं किया जा सकता, तब अनन्तधर्मात्मक वस्तु में विद्यमान धर्मों के कथन के लिए स्याद्वाद - अनेकान्तवाद का विरोध कैसे सम्भव है? अपनी एकान्तिक दृष्टि से हम कुछ भी मान लें, लेकिन सत्य को समझने के लिए वस्तु में अनन्त धर्मों की स्थिति को मानकर चलना ही पड़ेगा -

यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्। (प्रमाणवार्तिक २/२१०)

आंशिक सत्य को ही जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है, तब संघर्ष पैदा होना अवश्यम्भावी है। सत्य न केवल उतना है, जितना हम जानते हैं अपितु वह तो अपनी पूर्ण व्यापकता लिए हुए है। इसीलिए मनीषी चिन्तकों को कहना पड़ा कि उसे तर्क, विचार, बुद्धि और वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। (नैषातर्केण मतिरापनेया। - कठोपनिषद्) (नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन - मुण्डकोपनिषद्) सव्वे सरा निपत्तंते तक्का तत्थ न विज्जइ) - आचारांगसूत्र) मानव बुद्धि सत्य को जानने में समर्थ अवश्य है, किन्तु पूर्णता प्राप्त किये बिना उसे पूर्ण रूप से नहीं जान सकती है। स्थिति में जब तक हम अपूर्ण हैं, हमारा ज्ञान अपूर्ण है, तब तक अपूर्ण ज्ञान से प्राप्त उपलब्धि को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसे आंशिक सत्य कहा जाएगा और सत्य का आंशिक ज्ञान दूसरों के द्वारा प्राप्त ज्ञान का निषेध नहीं कर सकेगा। इसलिए यह दावा करना मिथ्या होगा कि मेरी दृष्टि ही सत्य है, मेरे पास ही सत्य है।

ऐसी स्थिति में संघर्ष को समाधान व समन्वय में परिणत करने का एक ही मार्ग है कि सत्य को खण्ड-खण्ड न करके अखण्ड रहने दें और वस्तुगत अनंत धर्मों को जानने के लिए अपनी क्षमता के अनुसार विभेद भी कर लें लेकिन उनका विभाजन न कर दें, जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप बना रहे। तब दो भिन्न दृष्टियों के पारस्परिक विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो जाएंगे। वे तथ्य सत्य के प्ररूपक होंगे।

आधुनिक विज्ञान ने भी अपने अनुसंधान से ही सिद्ध किया है कि वस्तु अनेकांतात्मक है। प्रत्येक वैज्ञानिक सत्य का शोधक है। इसीलिए यह दावा नहीं करता है कि मैंने सृष्टि के रहस्य का और वस्तु तत्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वैज्ञानिक सापेक्षवाद का सिद्धान्त यही तो कहता है कि हम केवल सापेक्षित सत्यों को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य तो पूर्ण दृष्टागम्य है। अतः दूसरों के ज्ञात सत्यों को असत्य नहीं कहा जा सकता है और सापेक्षित सत्य अपेक्षाभेद से सत्य हो सकते हैं। स्याद्वाद की भी यही दृष्टि है।

इस प्रकार व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की संरचना विविध विरोधों का समन्वित रूप है और वे सब उसके धर्म हैं, स्वभाव हैं। उनके अतिरिक्त विश्व का अन्य कोई रूप नहीं है। ये विरोध प्रतिद्वंद्वी नहीं हैं, किंतु परस्पर सापेक्ष हैं। उनका आधार एक है और वे आधार के प्रति एकनिष्ठ हैं। इस तथ्य को स्वीकार करने पर वैचारिक संघर्ष और विवाद के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता है।

लोकजीवन में स्याद्वाद का योगदान

लोकजीवन में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद का क्या योगदान हो सकता है? मोटे तौर पर योगदान के रूप होंगे —

(१) विवाद पराङ्मुखता
(२) वैचारिक सहिष्णुता
(३) वैचारिक समन्वय और सह-अस्तित्व की स्थापना।

लोक विभिन्न रुचि वाला है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में इसके दर्शन होते हैं। एक परिवार के ही सदस्यों में देखें तो सभी में रुचि वैभिन्य दिखाई देता है। खानपान से लेकर आध्यात्मिक दृष्टिकोण तक किसी भी बात में पूर्ण रूप से एकरूपता नहीं है। सभी को अपने वैयक्तिक विचार पहलू पर आसक्ति है लेकिन उन पहलुओं में भिन्नता होने पर भी वे विवाद का कारण नहीं बनते हैं। क्योंकि वे सभी सदस्य मिल-जुलकर रहना चाहते हैं और अपनी विचार-विभिन्नता को एक उच्च सीमा में आबद्ध रखते हैं जिससे उनकी पारिवारिक अस्मिता प्रभावित नहीं होती।

परिवार में तो हम विवाद पराङ्मुखता के लिए वैचारिक दृष्टि को संयमित रखते हैं, लेकिन धार्मिक क्षेत्र में उसे स्वच्छन्द विहार के लिए छोड़ देते हैं। फलस्वरूप विभिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। जैन धर्म स्याद्वाद का मुखर प्रवक्ता होकर भी उसके अनुयायी कई संप्रदायों में विभाजित हुए। इन संप्रदायों ने धर्म को विवाद का केन्द्रबिंदु बना दिया। इस विवाद को दूर करने का एक ही उपाय है कि आग्रह से एक कदम नीचे आ जायें। जब एकांगिक दृष्टिकोण, विवाद और आग्रह नहीं होगा तभी भिन्नता में समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

स्याद्वाद ने यही काम किया है। उसने आग्रह को एक कदम नीचे ला दिया। उसने विभिन्न संप्रदायों की समाप्ति का प्रयास नहीं किया किंतु समन्वय के सूत्र में बांधकर सुंदर बना दिया। साधना पद्धतियों में यह अच्छी है या यह बुरी का निर्णय न देकर वैयक्तिक रुचि, क्षमता, देशकाल की विभिन्नता को ध्यान में रखकर यही कहा कि -

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

(षड्दर्शन समुच्चय टीका)

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष लेकिन यह आकांक्षा है कि जो भी वचन युक्ति-युक्त हो उसे ग्रहण करूँ। स्याद्वाद के उक्त सूत्र का प्रयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है।

अंजलि जल ज्यों जा रहा, क्षण क्षण जीवन काल ।
जयन्तसेन सुपथ चलो, पग पग पर सम्पाल ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद का दूसरा उपयोग वैचारिक सहिष्णुता के लिए हो सकता है। एक ही प्रकार की जीवन प्रणाली, एक ही प्रकार की आचार-विचार की साधना-पद्धति न तो व्यवहार्य है और न संभव ही। यह तो संघर्ष का कारण बनेगी। जन-जीवन पीड़ित होता रहेगा। यही स्थिति मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती है।

मानवीय वृत्तियों की विभिन्नता का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है, केवल उन वृत्तियों का मार्गान्तरीकरण हो सकता है। इसके लिए आवश्यक होती है वैचारिक सहिष्णुता। विश्व का महान शक्तिशाली अन्यतम व्यक्ति भी सभी प्राणियों की रुचि को शक्ति, भय और प्रलोभन से एक नहीं कर सकता है, न ही सभी को एक ही मार्ग का अनुगामी बना सकता है और न अधार्मिकजनों को धार्मिक बना सकता है। ऐसी स्थिति में तो यही संभव है -

योऽपि न सहते हितमुपदेशं तदुपरि मा कुरुं कोपं रे।
निष्फलया किं परजनतप्त्या कुरुषे निज सुखलोपं रे॥

— शान्तसुधारस भावना

जो तुम्हारी हितकारी शिक्षा को नहीं सुनता, उस पर कोप मत करो, उसे भला-बुरा मत कहो। व्यर्थ में दूसरे पर कोप करने से स्वयं अपना सुख और शांति को भंग करोगे। सदाचरण से तो करने वाले को ही लाभ मिलेगा। यह वृत्ति तभी उत्पन्न हो सकती है जब मन में माध्यस्थ वृत्ति उत्पन्न हो जाये और माध्यस्थ वृत्ति की जननी है वैचारिक सहिष्णुता। वैचारिक सहिष्णुता तभी संभव है जब अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद वृत्ति का आश्रय लिया जाएगा। इसीलिए उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने वैचारिक सहिष्णुता के लिए स्याद्वाद के अवलंबन की ओर संकेत करते हुए कहा है -

यस्य सर्वत्र समतानयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्वन्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशविशेषण यः पश्यति स शास्त्रवित्॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्धयति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्वालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपिप्रभा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥

— अध्यात्मवाद ६९-७२

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन पर द्वेष नहीं करता है। वह संपूर्ण नय रूप दर्शनों को इस प्रकार की वात्सल्यदृष्टि से देखता है जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्र को देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं होती है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का वही अधिकारी है जो स्याद्वाद का अवलंबन लेकर संपूर्ण दर्शनों में समानता का भाव रखता है। माध्यस्थभाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं है।

स्याद्वाद आत्मा में समत्वयोग का इतना व्यापक विस्तार कर देता है कि स्व-पर का भेद ही नहीं रहता है। समत्वयोगी के स्वरूप को कबीर के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है —

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन जो गई मैं भी हो गई लाल॥

इसी कारण स्याद्वाद का उपासक जिस दृष्टिकोण को देखता है या विचार को सुनता है, या चिन्तन की शैली को परखता है, उसमें अपने ही किसी अंश को पाता है। विभिन्न दिखने वाले अंश भी स्वयं उसके चिंतन के किसी न किसी आयाम से मेल खाते हैं। अतः वह उनका विरोध करे तो कैसे करे? वे विभिन्न प्रतीत होने वाले विचार भी तो उसकी समग्र चिंतन काया के ही तो अंश हैं। अगर उनको तिरस्कृत कर दिया तो वह स्वयं समत्वयोगी न होकर विषमता का विश्वामित्र हो जाएगा। इसीलिए स्याद्वादी सहिष्णु होता है। वह रागद्वेष रूप आत्मा के विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरों के विचारों को सुनता है, सिद्धांतों का सम्मान करता है और अपने विचारों के साथ सामंजस्य के आधार का अन्वेषण करता है एवं माध्यस्थभाव से संपूर्ण विरोधों का समन्वय करता है।

जैनाचार्यों ने उक्त कथन को अपने कृतित्व द्वारा भी अभिव्यक्त किया है। जैनाचार्यों की अमीदृष्टि में 'अयं निजः परोवा' की विकृत भावना नहीं थी। वे तो गुणग्राही, समन्वयशील एवं उदारहृदय के साकाररूप थे। इसीलिए वे अपने बौद्धिक प्रागल्भ्य को विशेषणरूप अन्य दर्शनों को भी विकासोन्मुखी बनाने हेतु विनियोजन करने में सक्षम हो सके।

पर के प्रति माध्यस्थ भाव रखने, सहिष्णुता प्रदर्शित करने के लिए स्याद्वाद का अवलंबन आवश्यक है। विचारों की अभिव्यक्ति एक श्लाघनीय कला है लेकिन 'ही' के साथ वह आग्रह, वितंडा का रूप ले लेती है और 'भी' के रहने पर माध्यस्थरूपता। इस 'भी' का नाम अनेकांत दृष्टि - स्याद्वाद है, जो सत्य के किसी न किसी अंश को उद्घाटित करता है।

परिवार के अन्य-अन्य सदस्यों के अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं जो विवाद का कारण बन जाते हैं। इन विचारों के समाधान का एक ही उपाय है कि जब तक सहिष्णु दृष्टि से एक दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाये, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता है। हम दूसरे के संबंध में कोई विचार करें और निर्णय लें. उससे पहले स्वयं उस स्थिति में खड़े हों। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करने से ही उसके बारे में सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। सह-अस्तित्व का यही आधार है। अनेकांतवाद यही तो कहता है कि दो अंतों के बीच एक ऐसा सेतु बनाओ जिससे परस्पर विरुद्ध एक दूसरे से भिन्न दिखने वाले भी अपना-अपना अस्तित्व पृथक्-पृथक् रखकर परस्पर सहयोगी बन जाएँ।

उक्त आध्यात्मिक स्थिति की तरह पारिवारिक क्षेत्र भी है। स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा विविध दृष्टियों का समन्वय होता है। विविध दृष्टियों की भिन्नता शाब्दिक प्रक्रिया के कारण है, वह भावात्मक भिन्नता है।

द्वार प्रगति का है खुला, कर लो दूर कषाय ।
जयन्तसेन विपुल विभव, जीवन भर सुख पाय ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रजातंत्र तभी सफल हो सकेगा जब स्याद्वादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाएगा। विरोधी पक्ष की बात इसलिए अग्राह्य नहीं मानी जानी चाहिए कि वह अल्पमत में है। विरोधी पक्ष को उतनाही मान देना चाहिए जितना अपने पक्ष को सम्माननीय माना जाता है। विपक्ष विरोधी ही नहीं है, किन्तु उसकी धारणाओं में भी किसी रूप से सत्य का अंश है। इससे अपने दोषों के निराकरण का अवसर मिलता है। यह तभी संभव है जब वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय के द्वारा ही प्रजातंत्र का भविष्य उज्ज्वल बन सकता है। उनके लिए स्याद्वाद-अनेकांतवाद के सिवाय अन्य कोई आधार नहीं हो सकता है।

व्यक्तिगत जीवन में स्याद्वाद

स्याद्वाद दर्शन और चिंतन के क्षेत्र तक सीमित नहीं है अपितु आचरण व प्रयोग का भी माध्यम है। व्यक्ति और समष्टि सभी के लिए उपादेय है। शिष्ट और सामान्य नागरिक—आचरण के तीन सूत्र हैं - सम्मान, सुरक्षा और संयम।

स्याद्वाद द्वारा यही संकेत किया जाता है, आचार के लिए और विचार के लिए कि सद्विचार, सहिष्णुता एवं सत्प्रवृत्ति का सहयोग आवश्यक है। हितमित पर-पक्ष को सुनो, उसकी बात में भी सत्य समाया हुआ है। जीवन सबके लिए समान रूप से इष्ट है। यदि इसको न माना जाएगा, तो विश्व में निर्बलों को जीने का अधिकार ही नहीं रहेगा। इसलिए जीवन-विकास के लिए इन तीनों में ही स्याद्वाद की जीवनस्पर्शी व्याख्या समाई हुई है। स्याद्वाद सिर्फ विचार नहीं है, किन्तु आचार-व्यवहार भी है, जो अहिंसा और अपरिग्रह के रूप में विकसित हुआ है।

विश्व मंगलकारी स्याद्वाद

भगवान महावीर ने स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा यही सूत्र दिया है कि एक पक्ष की सत्ता स्वीकार करते हुए दूसरे पक्ष को भी उसका सत्य कहने दो और सत्य को स्वीकार करो।

स्याद्वाद संकुचित एवं अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है। यह विशालता, उदारता ही पारस्परिक सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एवं समन्वयका मूल प्राण है। उदारता, और सहयोग की भावना तभी बलवती बनेगी जब हमारा चिन्तन, कथन अनेकांतवादी होगा। विश्व को अपने विकास के लिए स्याद्वाद का सरल मार्ग स्वीकार करना पड़ेगा यही विश्व मंगल की आद्य इकाई है।

(पृष्ठ १८ का शेष भाग)

उपलब्धि तक पहुंचनेतक नहीं देती। इससे विपरीत वह आध्यात्मिक मूल्यों का उपहास कर रहा है। भौतिक विकास के उपहार ने मानव को उपहास की ओर धकेल दिया है। मानव की यह चेतना शून्यता उसे अनन्त शक्तिवान आत्मा के प्रति अनास्था से ग्रस्त किए है। मानव, भौतिक सुखों में इतना लिप्त होता जा रहा है कि आत्मिक सुखों के प्रयत्न के लिए उसे सोचने की फुर्सत ही नहीं है। पहली जरूरत यह है कि व्यक्ति का विवेक उसे जीवन की सही दिशा पर अग्रसर होने के लिए अन्तर्प्रेरित करे। मानव के हृदय के धरातल पर अन्तर्प्रेरणा के बीज अकुंरित होने चाहिए। वैसी अन्तर्प्रेरणा की जाग्रति जो शालीभद्र को असीम समृद्धि के मध्य 'मेरे नाथ' सुनकर हुई, जो इलाचीपुत्र को नट की तरह नृत्य करते हुए एवं भरत चक्रवर्ती को आरिसा भवन में दर्पण के सन्मुख अपने शरीर की ओर निहारते हुई। मानव का मन उसके आत्मिक विकास का उपकरण बन सकता है।

अतएव मानव के लिए पहली आवश्यकता यह है कि वह अपने बारे में चिन्तन करना प्रारंभ करे, परचिन्तन को अनुत्साहित करे। प्रात:काल उठकर स्वस्थ मस्तिष्क से विचार करे एवं निरंतर गुत्थी सुलझाने की कोशिश करे कि - 'मैं कौन हूं?' 'मैं शरीर नहीं, इन्द्रियां नहीं, भौतिक सुखों की ओर भटकनेवाला शरीर नहीं, मैं अनन्त शक्तिवाला आत्मा हूं। आत्मा का मूलस्थान दुःखों से भरा हुआ यह संसार नहीं बल्कि अनंत ज्ञान-दर्शन-सुखों आदि से युक्त शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप की प्राप्ति है। "मैं क्षणिक नहीं, अक्षय हूं।" "मैं भेड़ों की रेवड़का सदस्य नहीं अनंत शक्तियों से गर्जना करने वाला सिंह हूं। मैं आत्मा हूं, मैं आत्मा हूं, मैं आत्मा हूं।"

मधुकर मौक्तिक

मोक्ष का द्वार बन्द नहीं है, बल्कि हमारे मन के द्वार बन्द हैं। मोक्ष पाने के लिए मन के द्वार खोलकर पंच परमेष्ठी भगवंतों को उसमें प्रवेश कराना है। यदि आप कहीं जाना चाहते हैं, तो वहाँ के रास्ते बन्द नहीं हैं; हाँ इतना अवश्य है कि आप सीधे वहाँ न पहुँच सकेंगे। आपको अपने गन्तव्य तक जाने के लिए कुछ 'जंक्शनों' पर गाड़ियाँ बदलनी पड़ेंगी; तभी आप वहाँ तक पहुँच जाएँगे। हमारा लक्ष्य घर जाने का होना चाहिये। मोक्ष हमारा घर है। वहाँ जाने के लिए हम परमेष्ठी भगवंतों का अवलंबन लें और तदनुरूप साधना करते जाएँ। इस जन्म में न सही, किसी अन्य जन्म में; भरत क्षेत्र से न सही; महाविदेही क्षेत्र से; मोक्ष अवश्य प्राप्त हो सकता है। साधना/धर्माराधना कभी निष्फल नहीं होती। वह कभी-न-कभी तो हमें अपने मूल स्वरूप को प्रकट करने का अपूर्व अवसर प्रदान करती है।

— जैनाचार्य श्रीमद् जयन्तसेनसूरि 'मधुकर'

कषाय, बुरी बला समझ, इससे इज्जत हान ।
जयन्तसेन निर्मल मति, सद्गति का पंथान ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org